कालिदास एवं दाम्पत्य

–मोहित कुमार यादव एवं डॉ. सीमा सिंह*
शोधछात्र– संस्कृत, वी.ब. सिंह पूर्वांचल वि.वि., जौनपुर
एसो.प्रोफे. एवम् अध्यक्ष : संस्कृत
राजा हरपाल सिंह महाविद्यालय, सिंगरामऊ, जौनपुर (उ.प्र.)

निखिल कवि चक्रचूड़ामणि कवि कुल गुरू नाटककार कालिदास भारतीय साहित्य के जाज्वल्यमान रत्न हैं। काव्य मर्मज्ञों ने इन्हें कविता कामिनी का विलास कहा है। और प्राचीन कवियों की गणना में इन्हें कनिष्ठकाधिष्ठित बताकर उनकी तुलना में ठहराने वाले किसी अन्य प्रतिस्पर्धी कवि के अस्तित्व की सम्भावना का प्रत्याख्यान किया है–

पुरा कवीनां गणना प्रसंगेकनिष्ठिकाधिष्ठित कालिदासा।
अद्यापि तत्तुल्य कवेरभावादनामिका सार्थवती बभूव।।[1]

महाकवि के रूपकों में दाम्पत्य का महान् वैशिष्ट प्रस्तुत किया गया है जहाँ वे प्रणय की अत्यन्त मादक तथा अत्यन्त गम्भीर स्रोतस्विनी प्रवाहित कर सहृदय भावकों को सर्वथा आत्मविभोर कर देते हैं। किन्तु कवि प्रणय की सर्वातिशायी महत्त्व प्रदान नहीं करता उसे ही जीवन का चरम साध्य स्वीकार नहीं करता। दम्पति का जीवन धर्म पर आधृत होता है और श्रेष्ठतम आनन्द के उपभोग में पर्यवसित होता है। कालिदास का मानना है कि बिना पतिव्रता पत्नी के धार्मिक क्रियाएँ सफल ही नहीं होती– क्रियाणां खलु धर्म्याणां सत्पत्न्यो मूल कारणम्। पति–पत्नी के प्रणय में कवि की विशेषता है कि वे प्रेम की उपज सर्वप्रथम नारियों में ही मानते हैं, पुरुषों में बाद में। ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी धारणा यह थी कि पुरुषों में प्रेम की स्निग्धता एवं सुकुमारता का उदय मानव विकास के क्रम में पीछे हुआ है जबकि नारी हृदय का जन्मजात, नैसर्गिक एवं आभ्यन्तरिक गुण प्रेम द्रव का पिघलना एवं पसीजना है। किन्तु कवि ने सत्पुरुषों के पीछे के उदय होने वाले प्यार को नारी के प्रारम्भजन्य प्रेम के ही समान सच्चा, सान्द्र एवं सुकुमार चित्रित किया है। कवि का यह भी मानना है कि संयम और त्याग की कठोरता में दीक्षित एवं प्रशिक्षित होने वाली नारी की पवित्र आत्मा में जो प्रणय वेग उद्रिक्त एवं उद्दीप्त होता है वह दाम्पत्य की श्रेष्ठतम एवं मधुरतम सम्पत्ति है। इसमें अवरोध के उपस्थित होने पर प्रेम का प्रवाह अत्यन्त क्षिप्र एवं शतधा गतिमान बन जाता है।[2] खण्डित, ऋषि शाप से प्रतिहत एवं देव रोष से भस्म हो जाता है। शकुन्तला को आत्यि धर्म का ध्यान नहीं रहा। वह दुष्यन्त के ध्यान में ही मग्न रही। उस समय उसके प्रेम का मंगलभाव मिट ही गया और इसी कारण उसे निरादृत एवं तिरस्कृत होना पड़ा। इस पर कालिदास के बन्धन विहीन प्रेम की शक्ति को स्वीकार करते हुए भी उसके हाथ आत्म समर्पण नहीं दिया। उन्होंने दिखाया कि जो असंयत प्रेम सम्भोग, हमें अपने अधिकार से प्रमत्त या कर्त्तव्यच्युत कर देता है, वह स्वामि शाप से कवि ने अपने रूपकों में यद्यपि एक पत्नी व्रत का पालन तो नहीं कराया है फिर भी पहली पत्नी के प्रति जो प्रेम है उसमें किसी प्रकार के कमी नहीं आने दी है। पत्नी ने भी अपने पति की प्रसन्नता और कल्याण को ध्यान में रखते हुए घर में सौत के लाने पर भी परस्पर सम्बन्धों की क्षीणता को स्थान नहीं दिया है। कालिदास जीवन में प्रेम की जिस पराकाष्ठा तक पहुँच गये हैं, उसमें प्रेम

की विक्षिप्तता के तो लक्षण दिखाई नहीं पड़ते क्योंकि कोई भी कोमलमना, प्रियानुरक्त व्यक्ति, अपनी प्राणदयिता के वियोग में ऐसी ही कातर मनोदशा की अनुभूति करता है। जीवन के सांसारिक झंझावातों में नाटककार ने दाम्पत्य जीवन का कठोर परीक्षण किया है। पुरूरवा और उर्वशी का विलग होना तथा पुरूरवा का अपने प्रेम पर अडिग रहना, दुष्यन्त द्वारा त्याग किये जाने पर भी शकुन्तला का दुष्यन्त के प्रति अनुराग का पूर्ववत् रहना, कालिदास के पारिवारिक जीवन की आदर्शमयता को पुष्ट करता है। क्योंकि बिना तपाये सोने में चमक नहीं होती और बिना त्याग तपस्या के धर्म नहीं होता तथा बिना धर्म, जीवन सफल नहीं होता। आदि से अन्त तक, सुख से दुःख तक, पति–पत्नी के प्रति समर्पित रहती है और पति भी विवाहोपरान्त पत्नी का मूल जीवनाधार होता है। सृष्टि का मूलाधार परिवार संसार के किस उत्थान का कारण नहीं बनता। स्त्री–पुरुष का पावन संयोग ही अन्य जगत् का सृजन करता है और वही संसार का सार है। कालिदास ने अपने रूपकों में दाम्पत्य की विविध स्थितियों एवं उसके कारणगत सामाजिक, राजनैतिक व आर्थिक अवयवों का विशद समावेश किया है और यही उनकी रचनाओं का मूल बिन्दु रहा है। यद्यपि कालिदास की कृतियों पर, उनके विविध मन्तव्यों पर विद्वानों ने बड़ी गम्भीरतापूर्वक अनेक शोध किये हैं तथापि यहाँ कालिदास (के जीवनकाल का निर्धारण करते हुए उन) की नाट्यकृतियों (मालविकाग्निमित्रम्, विक्रमोर्वशीयम् व अभिज्ञानशाकुन्तलम्) में दाम्पत्य विषयक अवधारणा के विभिन्न रूपों की व उसके क्रमिक विकास को स्पष्ट करते हुए तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन अब तक नहीं किया गया है। दाम्पत्य का शाब्दिक अर्थ है– पति–पत्नी भाव। पति–पत्नी में वासना मात्र ही नहीं होती, अपितु धर्म भी होता है। इसलिए भारतीय संस्कृति में पत्नी को 'धर्मपत्नी' कहा जाता है। कालिदास के नाटकों में सामाजिक और राजनीतिक अवस्थाओं से गुजरता हुआ 'दाम्पत्य' ग्रहस्थ जीवन के सार रूप स्थापित होता है। शोध में इस नवनीत के बहुआयामों के अनुकूल उसके विविध रूपों का विश्लेषण किया जाएगा।

भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत विवाह (उद्वाह) एक पवित्र संस्कार है, जिसके सम्पन्न होते ही मनुष्य जीवन के विस्तृत क्षेत्र से परिचित होता है। परिवार तथा वंश वृद्धि के लिए, व्यक्ति एवं सामाजिक विकास के लिए तथा धार्मिक एवं आध्यात्मिक विकास के लिए मानव के वैवाहिक रूप को अनिवार्य माना गया है। गृहस्थ धर्म के आधार पर टिका मानव जीवन व्यवस्थित एवं नियन्त्रित रहता है। अतः भारतीय परिवार की धर्म की आधारशिला पर संयोजित किया गया हैं कोई भी धार्मिक कृत्य एकाकी पुरुष सम्पन्न नहीं कर सकता इसीलिए पत्नी को 'सहधर्मिणी' कहा गया है। मनु के अनुसार केवल पुरुष कोई वस्तु नहीं है। स्त्री, स्वदेह तथा सन्तान तीनों से मिलकर ही पुरुष पूर्ण होता है। सृष्टि के आरम्भ से ही पुरुष एवं स्त्री ये दो धाराएँ चली हैं। स्त्री धारा पुरुषमयी होकर ही कैवल्य की अधिकारिणी होती है अतः स्त्री पुरुष एक दूसरे के पूरक हैं। वेद और उपनिषद् तथा ब्राह्मण पुराणादि में इसका विशद् सन्दर्भ प्राप्त होता है। उसके कुछ तथ्यों को यहाँ उद्धृत करना उपयुक्त होगा। तैत्तिरीय संहिता से ज्ञात होता है कि समाज में तीन)णों की कल्पना जन्म ले चुकी थी।[3] पितृ ऋण से मुक्त होने के लिए विधिवत् विवाह एवं पुत्रोत्पत्ति आवश्यक मानी जाती थी। महर्षि अगस्त्य ने पितरों के उद्धार हेतु ही वैवाहिक जीवन स्वीकार किया था।[4] उन्होंने विदर्भ राजकन्या लोपामुद्रा से विवाह किया था। अविवाहित पुरुष को यज्ञाधिकार से वंचित माना जाता था।[5] विवाह करके पुत्र उत्पन्न करने के पश्चात् ही व्यक्ति पूर्ण समझा जाता था।[6] ऐतरेय ब्राह्मण में एक स्थान पर संन्यास की निन्दा करते हुए

पुत्रोत्पादन को ही परम धर्म बताया गया है।[7] विवाह एवं पुत्रार्जन की इस अनिवार्यता के पीछे सामाजिक हित एवं प्रगति की प्रबल भावना थी। पुत्र वृद्धावस्था का सहारा है, राष्ट्र की शक्ति है तथा उसी के माध्यम से वंश की परम्परा अक्षुण्य रहती है। महाभारत में जरत्कारू और कुणिगर्ग की कथा द्वारा स्त्री पुरुष दोनों के लिए विवाह एवं पारिवारिक जीवन की अनिवार्यता व्यक्त की गयी है।[8] हिन्दू समाज में आज भी विवाह की अनिवार्यता जीवित है। कई प्रदेशों में जब कोई व्यक्ति अविवाहित ही मर जाता है, तो दाह संस्कार के पूर्व उसका विवाह अवश्य कराया जाता है।[9] समाज में सम्भ्रान्त व्यक्तियों का झुकाव बहुपत्नीत्व की ओर था। उत्तरवैदिक साहित्य में बहुपत्नीकता की अस्वस्थ परम्परा को प्रोत्साहित किया गया है। उदाहरणार्थ तैत्तिरीय ब्राह्मण में बहुपत्नीत्व को सौभाग्यदायक बताया गया है।[10] ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि एक पुरुष की अनेक पत्नियाँ हो सकती हैं किन्तु एक स्त्री के अनेक पति नहीं हो सकते।[11] याज्ञवल्क्य जैसे विद्वान् तथा दार्शनिक ने भी मैत्रेयी और कात्यायनी नामक दो स्त्रियों से विवाह किया था।[12] ऐतरेय ब्राह्मण एक स्थान पर राजा हरिश्चन्द्र की सौ पत्नियों का उल्लेख करता है।[13] किन्तु वैदिक साहित्य में ही उपलब्ध प्रमाणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि बहुपत्नीकता की यह प्रथा सामाजिक दृष्टि से बहुत ही घातक थी। निश्चित ही इन सपत्नियों से पारिवारिक जीवन अशान्त रहा होगा। अथर्ववेद में सपत्नी विनाश के लिए मन्त्रों का विधान है।[14] उत्तर वैदिक साहित्य में जगह–जगह 'सपत्न' शब्द का प्रयोग प्रतिद्वन्द्वी के अर्थ में हुआ है।[15] इससे यह सिद्ध होता है कि सपत्नियों में 'प्रियसखीवृत्ति' अकल्पनीय थी। उनकी प्रतिद्वन्द्विता और संघर्ष ने जहाँ दाम्पत्य जीवन में सुखों को दूषित एवं विषाक्त किया, वहीं यह स्त्रियों के पतन का एक प्रबल कारण बना। पति की सपत्नियों की तुलना में अधिक प्रेम और साहचर्य प्राप्त करने के लिए उत्कण्ठिता नारी अपने गौरव पूर्ण आसन को छोड़कर सेवा कार्य में संलग्न हुई और क्रमशः पति के चरणों में जा बैठी। संहिता युग की पत्नी (स्वामिनी) उपनिषद् काल तक 'भार्या' (भरण के योग्य) कहलाने लगी।[16] बहुसंख्यक अनार्य स्त्रियों का आर्यों के अन्तःपुर में प्रवेश इस प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप द्रुततर हुआ होगा। ये स्त्रियाँ विजित एवं अधिकृत थीं। अतः इन्हें धार्मिक और सामाजिक अनुष्ठानों से पृथक रखा जाता था तथा मात्र उपभोग की वस्तु माना जाता था। धीरे–धीरे यह दृष्टिकोण आर्य स्त्रियों पर भी लागू होने लगा। उन्हें भी उपयोग की वस्तु तथा प्रजनन यन्त्र समझा जाने लगा। उत्तरवैदिक नारी के लिए 'जाया' शब्द का अधिक प्रयोग इस बात का सप्रेत है कि अब नारी की महत्ता का सबसे बड़ा कारण उसका प्रजनन कार्य माना जाता था। तैत्तिरीय संहिता के अनुसार पत्नी पति के शरीर का आधा भाग होती है।[17] शतपथ ब्राह्मण पति–पत्नी को एक दाने के दो दालों की भांति मानता है।[18] जिसकी संयुक्त स्थिति ही दोनों को पूर्णता प्रदान करती है। शतपथ ब्राह्मण में अन्यत्र पत्नी विहीन जीवन असर्व और अधूरा माना गया है।[19] इस प्रकार केवल पति–पत्नी की समानता की ही कल्पना नहीं की गयी थी बल्कि दोनों को एक ही शरीर के दो अविभाज्य अंग माना गया है। अथर्ववेद में दम्पति के महत्व का वर्णन करते हुए कहा गया है कि पुरुष सामवेद है और स्त्री ऋग्वेद। पुरुष द्युलोक है और स्त्री पृथ्वी।[20] इस प्रकार दोनों एक दूसरे के पूरक एवं पोषक हैं।

भारतीय सामाजिक परम्पराओं के अनुरूप ही महाकवि कालिदास ने अपने काव्यों का सृजन किया है। प्राचीन सामाजिक व्यवस्था में संस्कारों का अपना विशेष महत्त्व है। गृह्यसूत्र इसके प्रबल पोषक तथा सबल प्रमाण हैं। मानवीय सृष्टि एवं सामाजिक संरचना में परिवार का

सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान है। पत्नी और पुत्र का मानवीय जीवन में सर्वोच्च स्थान है। अच्छी नारी ही उत्तम सन्तान को जन्म देकर अच्छे परिवार की संरचना कर सकती है। परिवार और समाज को नारी ही अच्छी दिशा दिखाकर अच्छा कार्य करा सकती है। नारी में दूसरों को मनाने की प्रवृत्ति, निर्माण की शक्ति और त्याग की सबसे अधिक सम्भावनाएँ होती हैं।

पितृ ऋण से मुक्त होने और सांसारिक सुखों का वास्तविक स्वरूप जानने के लिए ही मनुष्य विवाह जैसे पावन संस्कारों को करता है। पूर्ण तृप्ति, अनुभव सहानुभूति और सदाचार की भावनाओं का उदय भी वैवाहिक जीवन के पश्चात् ही होता है। अपने मरे बिना कोई स्वर्ग नहीं देख सकता है। दूसरों के कहने पर अभाव की भावना सदा बनी रहती है। विवाह संस्कार के पश्चात् प्रायः मनुष्य को संसार के सुखों का सही स्वरूप दीखने लगता है। कुछ ही लोग ऐसे होते हैं जिनका जीवन विवाहोपरान्त विलासी होने लगता है किन्तु अधिक लोग इन्हें भागकर आत्मकल्याण की ओर प्रवृत्त होते देखे गये हैं।

कालिदास ने अमर साहित्य इसका प्रबल प्रमाण है। सांसारिक व्यक्ति को संसार में रहकर पुत्र की कामना होती है और पुत्र की कामना मनुष्य अपने दुःख के समय तथा आश्रयहीन होने पर ही करता है। पुत्र पिता का प्रतिरूप होता है। वह वंश की स्मृति और सुरक्षा का प्रतीक माना जाता है। पुरुष की अपेक्षा नारी को सन्तान की अधिक कामना होती है। सांसारिक सुख दुःखों में रहने वाला प्रत्येक व्यक्ति अपनी प्रिय सन्तान का मुख देखकर दुःखों को भूल जाता है और भविष्य में सुखद स्वप्नों में तल्लीन हो जाता है। महाकवि कालिदास ने भी अपने सन्तान सम्बन्धी विचार अपने रूपकों में दूसरे पात्रों के माध्यम से बड़ी मार्मिक तथा सूक्ष्म दृष्टि से व्यक्त किया है। महाकवि की रचनाओं में यत्र–तत्र पुत्र की कामनाएँ देखी गयी हैं। कवि स्वयं पुत्रहीन रहा होगा अन्यथा कहीं न कहीं पुत्र का नाम अवश्य लिखता। पुत्र की कामना को कवि ने विभिन्न राजाओं में दिखाया है। सांसारिक सुख और सामाजिक संरचना में पुत्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मेघदूतम में कवि ने यक्ष की पत्नी का सूक्ष्म वर्णन किया है। किन्तु महाकवि ने अपनी अन्तिम नाट्य रचना अभिज्ञानशाकुन्तलम् में एक सुखी, समायोजित, शुद्धस्नेह, एक दूसरे की भावनाओं को समझने वाले एक आदर्श परिवार का उदाहरण प्रस्तुत किया है। यद्यपि गान्धर्व विवाह की प(ति पर इन दोनों का सम्बन्ध स्थापित हुआ है तदापि दायित्वों का निर्वाह अत्यन्त विदग्धता के साथ दिखाया गया है। जीवन के मध्य में कटुता, छल तथा दम्भ के भाव आ जाते हैं किन्तु महाकवि ने बड़ी चतुराई से उसका निराकरण भी किया। क्योंकि पति–पत्नी का जोड़ा चकोर–चकोरी की तरह सुन्दर एकस्थ और प्रेम विभोर होता है। दम्पत्ति के प्रेम को अभिव्यक्त करने के लिए यह उपमा वैदिक काल से ही चली आ रही है। विवाहित दम्पत्ति के लिए अथर्ववेद में कहा गया है, ''हे परमेश्वर! इन दोनों पति–पत्नी को इस लोक में चक्रवाक–चक्रवाकी के समान प्रेरित करें, जिससे दोनों सन्तान के कल्याण वाले होकर पूर्ण आयु का भाग करें।''[21]

कालिदास के सम्बन्ध में यह प्रवाद है कि उनका कौटुम्बिक चरित्र निर्दोष नहीं था परन्तु उनके ग्रन्थें में ऐसा आधार नहीं मिलता। उन्होंने गृहस्थाश्रम की 'सर्वोपकारक्षम' कहकर प्रशंसा की है। पति–पत्नी का प्रेम सत्य सनातन है, भगवान् शप्रर जैसे असाधारण इन्द्रियनिग्रही योगी पर भी प्रेम ने अपना प्रभाव जमाया, फिर और सामान्य लोगों की बात क्या है, इस प्रकार उन्होंने 'कुमारसम्भव' में कहा है।[22] उन्होंने अपने काव्यों में स्त्रियों के प्रति अत्यन्त आदर भाव प्रकट

किया है। उन्होंने यह भी कहा है कि विवाह सम्बन्ध स्थापित करने में स्त्रियों की सलाह के अनुसार चलते हैं। कालिदास पार्वती और शिव के विवाह के सन्दर्भ में कहते हैं– 'यद्यपि हिमालय स्वयं तो इससे सहमत थे फिर भी उन्होंने इसका उत्तर पाने के लिए मैना की तरफ देखा।

सन्दर्भ–सूची–

1. जयदेवः भसो हासः कविकुल गुरु कालिदासो विलासः।
2. नद्या इव प्रवाहो विषमशिलाप्रटस्खलित वेगः।
   विघ्नितसमागमसुखो मनसिशयः शतगुणी भवति।। –विक्रमो. 3/8
3. तै.सं. 6.2.10.5, काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, ग्रन्थ दो, भाग–1, पृ. 270
4. ऋग्वेद–1.179, महाभारत–3.96
5. शतपथ ब्रा. 5.1.6.10, अयज्ञियो वै एषयोऽपत्नीकः। तुलना तै. ब्रा. 22.261
6. शत. ब्रा. 5.2.1.10
7. ऐतरेय ब्रा. 33.11– किं नु मलं किमजिनं किं श्मरुणि किं तपः।
   पुत्रं ब्राह्मण इच्छध्वं स वे लोको वदावदः।।
8. महाभारत–1.13, 1.45
9. सेन्सस रिपोर्ट 1931, खण्ड एक, भाग–1, पृ. 227
10. तै.ब्रा. 3.84–श्रिया वा एतद्रूपं यत्पत्नयः।
11. ऐतरेय ब्रा. 2.11, तस्मात् एकस्य वह्वी जाया भवन्ति व बहवः सहपतयः।
    तै.सं. 6.5.10.4–एकाबह्वीर्जाया विन्दते।
12. वृ. उप. 4.5.12
13. ऐत.ब्रा. 33.1
14. अथर्ववेद–1.14.3.18
15. वैदिक इण्डेक्स–2.424
16. बृह.उप. 3.41, 4.5.1
17. तै.सं. 6.1.8.5, अर्धवाएष आत्मनो यत्पत्नी।
18. शत.ब्रा. 14.4.2.4–5, तस्मादर्ध वृगलमिव स्वः इति स्माहयज्ञवल्क्यः।
19. शत.ब्रा. 5.2.1.10
20. अथर्ववेद–14.2.71– सामाहमसिम ऋक् त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वम्।
21. इहेमाविन्द्र संनुद चक्रवाकेव दम्पती।
    प्रजयैनो स्वस्तकौ विश्वामायुर्व्यश्नुताम्।। –अथर्व. 14/2/64
22. पशुपतिरपि तान्यहानि कृच्छ्रादगमयदद्विसुता समागलोकः।
    कमपरमवशं न विप्रकुर्यर्विभुमपि तं यदमी स्पृशन्ति भावाः।। –कुमार. 06/95